THE TIMES OF INDIA

Date: 05-09-18

Reds Under Every Bed?

Urban Naxal is the latest of many epithets used to discredit progressives as 'elite'

Editorial

Urban Naxal, what a weird phrase. It shares a genealogy with many other phrases used to discredit middle-class 'left-liberals', all over the world. Whether it's champagne socialists, limousine liberals, or radical chic – the seeming incongruity or tension between the two words is meant to convey the hypocrisy or deceit at the heart of it. In the right-wing imagination, this powerful network speaking for the powerless is just using them for its own shady ends ('breaking India', apparently). Or they're just trying to signal virtue. Knowing that their own privileges are safe, they sneer at hardworking small-town/new-middle-class citizens.

These jholawalas, leftovers of the old developmental state, we are told, resist economic reform because they are threatened by its energies, its rude blast of aspiration. The Modi government, we are also told, is the long suppressed voice of those whom generations of PLUs patronised and ignored. These epithets obviously have some emotional charge, to have resonated around the world. The idea of privileged people claiming empathy with the most vulnerable has been cast as a great con job, the Brahmin left's attempt to keep the in-between classes and castes down. But what part of these accusations makes sense, and when is it just name calling?

Critics say that most well-off progressive types don't have 'skin in the game', they glibly recommend policies like reservations or public education because they don't have to bear its costs, they're not competing for those finite resources. This accusation may be partly warranted. But obviously, it doesn't apply to the activists being currently investigated – most of whom have devoted their lives to their causes. Secondly, there is a visible contradiction between the comfortable lives of many 'left-liberals' and their stated commitment to equality. Why don't they just give away their money, practise what they preach? 'If you're an egalitarian how come you're so rich?' was a question somewhat answered by the philosopher GA Cohen. The short defence is that it's about structural change, not individual charity. They are choosing parties and mobilising for causes that will potentially redistribute some of their privilege – they put their vote where their voice is.

Third, there is indeed a touch of condescension in some of them. They do not always respect the rationality of those unlike them, portraying them as religious dupes or resentful losers, people who 'vote against their own interests'. That's why Mani Shankar Aiyar upsets so many people, he reminds them of other hyper-educated, English-speaking brahminical snobs. But, but, but. Despite these small particles of truth, the idea of the well-heeled povertarian is an enormous sleight of hand, to delegitimise those whose arguments you don't like. To pretend that a few well-connected people in Lutyens' Delhi are the only vestiges of these beliefs is easier than contending with the true diversity of progressive voices, which happen to include a few 'champagne socialists'.

We know that better-off people have always played some part in social transformation, from Marx and Engels to influential politicians of the last century. In the US, the idea of 'limousine liberal' took root in the 1930s as a reaction to an activist government. The family capitalists whose interests were threatened by

Franklin Delano Roosevelt and his New Deal were enraged at his betrayal of his patrician background. Roosevelt was even accused of being a closet Jew, a drunk, a syphilitic and a foul communist – echoes of RSS slurs about Nehru, anyone? Such leaders and parties might have elite origins, but at least they are pushing back against their material self-interest.

In any case, even our champagne socialists are certainly not the rich or dominant – at most, they might be what George Orwell half-jokingly identified as the "lower-upper-middle class". Some of them have cultural capital and voice – as professors, NGO workers, a few civil servants and judges and journalists – but they are not the string pullers of some mighty ecosystem. Their ethos is more and more marginal in a middle class that's changed in character after economic liberalisation. What's more, most of those described as urban Naxals or jholawalas are not seeking anything more explosive than the standard goals of social democracy. They are arguing for a welfare floor for the vulnerable, not advocating armed revolution. To call for universal health or education is not to bring state-led tyranny, it is to widen opportunity, make 'aspiration' meaningful for everyone.

Some activists are using the law to fight for justice, against the state's bullying, or amplifying the voice of those whose aspirations may not match the desires of the mainstream. Obviously, Maoist ideologues or violent separatists do exist – but to use them to discredit the Left is like hitching ordinary Hindus to the Sanatan Sanstha's murderous worldview. So to sum up, urban Naxals, champagne socialists, etc are just stage villains for the conservative imagination. Fellow-feeling and solidarity are perfectly natural impulses, and they will survive this onslaught too.

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 05-09-18

रुपये का बचाव अनुचित

संपादकीय

मंगलवार को रुपया डॉलर के मुकाबले 71.28 पर खुलकर और गिर गया। इससे पहले सोमवार को यह प्रति डॉलर 71.21 के स्तर पर बंद हुआ था। कुछ विश्लेषकों का यह अनुमान सही साबित हो सकता है कि निकट भविष्य में रुपये की कीमत में और गिरावट आ सकती है। अमेरिका की बात करें तो वहां निरंतर व्याप्त कारोबारी तनाव और अमेरिकी केंद्रीय बैंक फेडरल रिजर्व द्वारा धीमी गति से ही सही सख्त मौद्रिक रुख अपनाने के बीच डॉलर में कोई कमजोरी नहीं दिख रही है।

भारत के लिए यह लगातार ऐसा संकेत बना हुआ है जहां सरकार और रिजर्व बैंक को वृहद आर्थिक संकेतकों पर करीबी नजर रखनी होगी। बाहरी खाते की कमजोरी अब 2013 के दौर के आसपास नहीं है। उस वक्त छह महीने से भी कम समय में रुपये का मूल्य डॉलर की तुलना में 30 फीसदी से भी अधिक गिरा था। जाहिर सी बात है संतुष्ट होने की कोई वजह नहीं है। यह मानने की कोई वजह नहीं है कि रुपये में आगे और गिरावट नहीं आएगी और वह 73 रुपये प्रति

डॉलर के आसपास के स्तर पर स्थिर होने के बाजार के मौजूदा अनुमान को नहीं तोड़ेगा। काफी कुछ विदेशी पोर्टफोलियो की आवक पर भी निर्भर करता है। विदेशी निवेशक प्रतिभूति बाजार नियामक के हालिया नियमों को लेकर चिंतित हैं।

ये नियम प्रतिभूतियों में निवेश को मुश्किल बना सकते हैं। वैश्विक बाजार में कच्चे तेल की कीमत भी मध्यम अवधि में काफी मजबूत हुई है। यह स्पष्ट है कि रुपये के अवमूल्यन के साथ एक अहम मुद्रास्फीतिक दबाव भी बनेगा जो आरबीआई की मौद्रिक नीति समिति के लिए चिंता का विषय बन सकता है। कुछ लोगों का मानना है कि उस स्थिति में मौद्रिक नीति समिति ब्याज दरों में बढ़ोतरी की राह अपनाने पर मजबूर हो जाएगी ताकि खुदरा महंगाई को 4 फीसदी के स्तर के आसपास रखा जा सके। गत सप्ताह जारी किए गए आर्थिक वृद्धि के मजबूत होने के आंकड़े इस संदर्भ में मुद्रास्फीति में बढ़ोतरी की बात को मजबूती देंगे।

राजनीतिज्ञों और अर्थव्यवस्था के कुछ क्षेत्रों से दबाव हो सकता है। परंतु रिजर्व बैंक को रुपये में और गिरावट को रोकने के किसी भी प्रयास से अत्यंत सख्ती से बचना चाहिए। खासतौर पर ऐसी कोई वजह नहीं है कि आरबीआई रुपये की कीमतों के प्रबंधन के लिए अपने विदेशी मुद्रा भंडार में से डॉलर खर्च करे। यह बात ध्यान देने वाली बात है कि आज के दौर और 2013 की गर्मियों में एक बड़ा अंतर है, जो भारत को बाहरी खाते के मोर्चे पर संकट के करीब ले गया था। वह अंतर यह है कि मौजूदा विदेशी मुद्रा भंडार उस दौर की तुलना में बहुत अच्छी स्थिति में है। अगर आरबीआई अपने सुरक्षित मुद्रा भंडार का प्रयोग करके रुपये को बचाने की एकतरफा कोशिश में लग गया तो ऐसा नहीं हो पाएगा।

अगर कोई अन्य तरीका तलाशा जा सका तो यह आपत्ति लागू नहीं होगी। इसके बावजूद सभी संबंधित पक्षों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि सस्ते रुपये के अपने फायदे हैं। भारत का निर्यात एक लंबे ठहराव के बाद सुधरता नजर आ रहा है। अंत में कहा जाए तो एक खुली अर्थव्यवस्था में बाहरी खाते के मोर्चे पर सुरक्षा का एकमात्र तरीका यही है कि वह अपने निर्यात को निरंतर प्रतिस्पर्धी बनाए रखने में सफल रह सके। इसके लिए घरेलू स्तर पर ढांचागत सुधारों की जरूरत होगी। वास्तविक वृहद आर्थिक स्थिरता के लिए सरकार को सतत घरेलू सुधारों की राह पर वापस लौटना पड़ेगा।

Date: 05-09-18

आर्थिक वृद्धि में आई तेजी परंतु चिंता बरकरार

देवांग्शु दत्ता

भारतीय निवेशक व्यापार युद्ध में तेजी की आशंका की अनदेखी कर सूचकांकों को नई ऊंचाइयों पर ले गए। अमेरिका और चीन के बीच बातचीत किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच रही है। अमेरिका चीन से होने वाले निर्यात पर 20,000 करोड़ डॉलर का अतिरिक्त दंडात्मक शुल्क लगा सकता है। चीन इसका विरोध करेगा। अमेरिका नाफ्टा को खत्म करने की धमकी भी दे रहा है क्योंकि वह कनाडा और मैक्सिको के साथ व्यापारिक शर्तों पर नए सिरे से बातचीत कर रहा है। ऐसे में वैश्विक स्तर पर मुद्रास्फीति बढ़ेगी और व्यापारिक गतिविधियों में धीमापन आएगा। कमजोर मांग के चलते धातु बाजार में धीमापन आ सकता है, कच्चे तेल की कीमतें ऊंची बनी रहेंगी क्योंकि ईरान पर प्रतिबंध लगा हुआ है और वेनेजुएला में हालात ठीक नहीं हैं।

रुपये में गिरावट का सिलसिला लगातार चल रहा है और इसके और नीचे जाने की पूरी आशंका है। अर्जेंटीना की मुद्रा पेसो और तुर्की की मुद्रा लीरा की कमजोरी अन्य उभरते देशों की मुद्राओं के कमजोर रुझान को जाहिर करते हैं। कच्चे तेल के आयात का भारतीय बास्केट 75 डॉलर प्रति बैरल पर है, यानी चालू खाते के घाटे में इजाफा होना तय है। कारोबारी जीडीपी के आंकड़ों से कुछ प्रोत्साहित होंगे। अप्रैल से जून 2018 तिमाही के दौरान जीडीपी में सालाना आधार पर 8.2 फीसदी की वृद्धि दर देखने को मिली। यह आंकड़ा अनुमान से बेहतर है। वर्ष 2017-18 की पहली तिमाही में वस्तु एवं सेवा कर (जीएसटी) के लागू होने और नोटबंदी के दुष्प्रभावों के चलते वृद्धि पर असर पड़ा था। माना जा रहा है कि जुलाई-सितंबर 2018 यानी दूसरी तिमाही के दौरान भी यह असर देखने को मिलेगा।

आर्थिक वृद्धि व्यापक रही। विनिर्माण क्षेत्र सालाना आधार पर 13.5 फीसदी ऊपर था। एक वर्ष पूर्व यानी अप्रैल-जून 2017 में यह मात्र 1.8 फीसदी रह गई थी। कृषि क्षेत्र में 5.3 फीसदी की वृद्धि दर्ज की गई। सेवा क्षेत्र में यह दर 7.3 फीसदी रही। निजी खपत व्यय में वृद्धि की दर 8.6 फीसदी रही। कहा जा सकता है कि अर्थव्यवस्था जीएसटी और नोटबंदी के बुरे प्रभाव से निपटने में सफल रही है। अस्थिर आधार प्रभाव को लेकर चिंताएं बरकरार हैं। निजी निवेश चक्र भी अभी पर्याप्त गतिशील नहीं हुआ है। निजी खपत को लेकर कुछ परेशान करने वाले संकेत रहे हैं। अगस्त महीने में वाहन बिक्री में बढ़ोतरी नहीं नजर आई। जीएसटी को देखते हुए हमें शायद कुछ और महीनों के आंकड़ों को एक साथ रखकर ही किसी सार्थक रुझान की आशा करनी चाहिए।

रिजर्व बैंक की वार्षिक रिपोर्ट के मुताबिक करीब 99.3 फीसदी नकदी चलन में वापस आ गई। एक बार फिर आम जनता के बीच उतनी ही नकदी चलन में है जितनी नोटबंदी के पहले थी। आम परिवारों की बचत में इजाफा हुआ है लेकिन उनकी उधारी भी बढ़ी है। बचत के रुख में भी नकारात्मक बदलाव आया है और लोग अधिक मात्रा में नकदी का भंडारण कर रहे हैं। वित्त वर्ष 2018 में आम घरों की बचत का स्तर सकल राष्ट्रीय व्यय योग्य आय के 11.1 फीसदी तक बढ़ गया है लेकिन वित्तीय जवाबदेही भी इसके 4 फीसदी के साथ सात वर्ष के उच्चतम स्तर पर है। वर्ष 2016-17 में यह दर केवल 2.4 फीसदी थी।

आवास और व्यक्तिगत ऋण में बढ़ोतरी की वजह से ऋण के स्तर में सुधार दिख रहा है। इसमें क्रेडिट कार्ड की भी हिस्सेदारी है जो अब गैर खाद्य ऋण के बकाये में से 25 फीसदी के लिए जवाबदेह है। मार्च 2018 तक औद्योगिक ऋण घटकर गैर खाद्य ऋण का 35.1 फीसदी रह गया था जबकि मार्च 2015 में यह 44 फीसदी के उच्च स्तर पर था। यह बताता है कि निजी निवेश भी कुछ खास नहीं रहा। क्रेडिट कार्ड ऋण मार्च 2018 तक दोगुना से ज्यादा बढ़कर 69,000 करोड़ रुपये हो गया था। इससे यह भी पता चलता है कि निजी खपत मजबूत है। जीडीपी के मजबूत आंकड़े इसका समर्थन करते हैं।

बिजली क्षेत्र की दिक्कतें कहीं अधिक हो सकती हैं। इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने उन 60 के करीब कंपनियों को राहत देने से मना कर दिया है जिन पर करीब 1.2 लाख करोड़ रुपये बकाया हैं। अगर वे कोई हल निकालने में नाकाम रहीं तो आरबीआई 15 दिन के भीतर ऋणशोधन प्रक्रिया शुरू कर सकता है। बिजली क्षेत्र की बात करें तो अनिल अंबानी समूह की आरइन्फ्रा को अदाणी ट्रांसमिशन ने उबारा। उसने आर इन्फ्रा की मुंबई बिजली वितरण की परिसंपत्तियों को 18,800 करोड़ रुपये में खरीदा। इससे आरइन्फ्रा का कर्ज 22,000 करोड़ रुपये से कम होकर 7,500 करोड़ रुपये रह गया। अनिल अंबानी ने आशा जताई है कि उनकी कंपनी बिना कर्ज वाली कंपनी बन सकती है।

इंडियन पोस्ट पेमेंट बैंक (आईपीपीबी) ने सेवाएं शुरू की हैं। 155,000 डाकघरों और 17 करोड़ बचत खातों के साथ यह ग्रामीण क्षेत्रों में गहरी पकड़ रखता है। इसके चलते वहां बैंकिंग सुविधाओं में सुधार हो सकता है। कॉर्पोरेट आय को देखें तो पहली तिमाही अच्छी थी और दूसरी तिमाही भी बेहतर रह सकती है। तीसरी तिमाही में सालाना आधार पर गिरावट आएगी क्योंकि आधार प्रभाव समाप्त हो जाएगा। जीएसटी जैसे व्यापक बदलाव से समायोजन करना मुश्किल है लेकिन जीएसटी संग्रह खुद सुधार के संकेत दे रहे हैं। व्यापक तौर पर देखें तो वृद्धि अच्छी रहेगी और अगर वैश्विक घटनाएं प्रतिकूल नहीं हुईं तो वह बहुत अच्छी होगी। हमें कच्चे तेल के महंगे दाम, नकदी आपूर्ति में तंगी और कारोबारी माहौल में गिरावट पर ध्यान देने की जरूरत है। मूल्य आय अनुपात की बात करें तो बाजार में मूल्यांकन ऐतिहासिक ऊंचाई पर है। भले ही तमाम क्षेत्रों में अप्रत्याशित तेजी हो तो भी इसे उचित ठहराना मुश्किल होगा। फिलहाल एफपीआई सकारात्मक हैं। घरेलू संस्थान तब तक खरीद जारी रखेंगे जब तक म्युचुअल फंड एसआइपी की आवक जारी है। तकनीकी तौर पर देखें तो निफ्टी/सेंसेक्स नए क्षेत्र में हैं। इसलिए लक्ष्य तय करना असंभव है। फिलहाल माहौल तेजडियों के पक्ष में है।

Date: 04-09-18

राष्ट्रीय सहारा

राज्यों में भी उच्च सदन

संपादकीय

उपराष्ट्रपति एम वेंकैया नायडू के राज्य सभा की तरह सभी राज्य विधानसभाओं में उच्च सदन यानी विधान परिषद गठित करने के सुझाव को गंभीरता से लिया जाना चाहिए। हालांकि देश में ऐसे लोग भी हैं, जो विधान परिषद को अनावश्यक मानते हैं किंतु इस संबंध में कोई ठोस तर्क इनके पास नहीं होता। उच्च सदन के पीछे मुख्य सोच यही थी कि इसमें वैसे योग्य लोगों को पार्टियां ला सकती हैं, जिनकी आवश्यकता नीति-निर्माण में उपयुक्त विचार देने तथा सार्थक बहस के लिए तो है, पर वे चुनाव में जीतकर निचले सदन में नहीं आ सकते। पार्टियां इसकी जगह इसमें कुछ अयोग्य लोगों को भी निर्वाचित करा देती हैं, तो इसका यह अर्थ नहीं कि विधान परिषदों की आवश्यकता को ही खारिज कर दिया जाए। उच्च सदन विधायिका में संतुलन के लिए अनिवार्य है। नायडू का सुझाव बिल्कुल सही है कि राज्यों में उच्च सदन की जरूरत को देखते हुए इसके गठन के लिए एक राष्ट्रीय नीति बनाने पर विचार करना चाहिए।

अभी देश के सिर्फ सात राज्यों उत्तर प्रदेश, कर्नाटक, बिहार, जम्मू-कश्मीर, आंध्र प्रदेश, तेलंगाना, महाराष्ट्र-में ही दो सदनों की व्यवस्था है यानी एक चौथाई राज्यों में ही विधानसभा की जगह विधान परिषद है। यहां विधानसभा जैसे चाहे वैसे विधेयक पारित कर सकतीं हैं। विधान परिषद की विशेषज्ञता का लाभ उसे नहीं मिल पाता। उम्मीद करनी चाहिए कि उपराष्ट्रपति नायडू के सुझाव पर केंद्र और शेष बचे राज्य इस दिशा में पहल आरंभ करेंगे। विधान परिषद के गठन के लिए संविधान के अनुच्छेद 169 के तहत विधानसभा में दो तिहाई बहुमत से पारित प्रस्ताव संसद के समक्ष भेजना होता है। इस प्रस्ताव को अनुच्छेद 171 के तहत संसद के दोनों सदनों से साधारण बहुमत से पारित किए जाने के बाद इसे

राष्ट्रपति की मंजूरी मिलने पर संबंधित राज्य में विधान परिषद का गठन किया जा सकता है। तात्पर्य यह कि विधान परिषदों के गठन में कोई बड़ी संवैधानिक समस्या नहीं है। वैसे, कुछ राज्य इस दिशा में पहल कर चुके हैं। मसलन ,राजस्थान और असम की विधानसभा ऐसे प्रस्ताव पारित करके भेज चुकी हैं। तमिलनाडु और ओडिशा भी इस दिशा में सक्रिय हैं। प. बंगाल सरकार भी 2011 से प्रयासरत है। जिन राज्यों का प्रस्ताव आ चुका है, उसे पारित कर केंद्र वहां विधान परिषद के गठन की प्रक्रिया आरंभ होने दे और जिन राज्यों ने पहल नहीं की है, उन्हें ऐसा करने के लिए उत्प्रेरित करे।

Date: 04-09-18

उम्मीद जगाता प्रदर्शन

संपादकीय

भारत ने जकार्ता में संपन्न एशियाई खेलों में अब तक का सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन किया है। भारत ने इस बार 15 स्वर्ण और 24 रजत पदक से 69 पदक जीते हैं। इससे पहले सर्वाधिक पदक जीतने का रिकॉर्ड 2010 के ग्वांगझू खेलों में 65 पदकों का था। भारत ने नई दिल्ली में 1951 में हुए पहले खेलों में 15 स्वर्ण पदक जीते थे और हमें इन 15 स्वर्ण पदकों तक पहुंचने में 67 साल लग गए हैं। इन खेलों से दो सकारात्मक बातें निकलकर आई हैं। एक तो भारतीय प्रदर्शन का आगे बढ़ता ट्रेंड नजर आ रहा है। दूसरे इस बार युवा खिलाड़ियों ने मोर्चा संभालकर देश को इस मुकाम तक पहुंचाया है। हम इन खेलों में पिछले कुछ सालों से लगातार अच्छा प्रदर्शन कर रहे हैं, यह अच्छा संकेत है। वहीं युवा खिलाड़ियों का पदक जीतने में दबदबा रहा है। इन खेलों में भारत का सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन एथलेटिक्स में रहा है। इसमें भारत ने सात स्वर्ण पदकों के सहयोग से 19 पदक जीते हैं।

नीरज चोपड़ा ने जिस तरह से जेवलिन में 88.06 मीटर की थ्रो करके स्वर्ण पदक जीता, उससे लगता है कि वह टोक्यो से पदक के साथ लौट सकते हैं। यही नहीं हिमा दास और दुती चंद में भी क्षमता है। भारत ने कुछ बहुत ही करीबी मुकाबलों में स्वर्ण पदक को खोया है, जिन्हें थोड़ी मजबूत मानसिकता के साथ जीता जा सकता था। भारत ने बैडमिंटन, टेबल टेनिस, कुश्ती और मुक्केबाजी में पदक जीते पर एथलेटिक्स के बाद निशानेबाजी में सबसे अच्छा प्रदर्शन किया। निशानेबाजी में स्वर्ण जीतने वाले सौरभ चौधरी और शादरुल तो 16 साल के हैं। ऐसी प्रतिभाओं को मांजकर ओलंपिक के लिए तैयार किया जा सकता है।

पर हॉकी और कबड्डी में स्वर्ण पदक नहीं जीत पाने से निराशा हुई है। हॉकी में प्रदर्शन में एकरूपता लाने की जरूरत है तो कबड्डी में बादशाहत वाले रवैये को छोड़कर गंभीरता से प्रयास करने की जरूरत है। भारत ने जकार्ता एशियाई खेलों में इन दोनों स्पर्धाओं में क्षमता के अनुसार प्रदर्शन करके तीन गोल्ड और जीते होते तो वह आठवें के बजाय सातवें स्थान पर रह सकती थी। भारत ने इस बार 20-22 ऐसे खेलों में करीब 228 खिलाड़ी भेजे, यहां एक भी पदक नहीं मिला। इस मसले पर ध्यान देने की जरूरत है। अच्छा प्रदर्शन करने वाली यंग ब्रिगेड को अभी से 2020 के टोक्यो ओलंपिक की तैयारी में जुटा देना चाहिए। यही वक्त की मांग है।

THE HINDU

Date: 04-09-18

The nature of dissent

Dissent is necessary not only for democracy — it is necessary for the survival of the human race

Sundar Sarukkai,(Sundar Sarukkai is Professor of Philosophy at the National Institute of Advanced Studies, Bengaluru)

Disagreeing with each other is a fundamental human trait. There is not a single individual who does not disagree with something or the other all the time. Philosophers argue that a baby meaningfully attains its sense of the self — its recognition of 'I' and the concept of 'mine' — when it first begins to say 'no'. At a primordial level, we become individuals only through this act of stating our disagreement. There is no family without dissent between parents and the children, or between the siblings. A family which learns to deal with dissent rather than authoritatively dismissing it is a more harmonious family.

A way of being

We dissent at home, with our friends and with our colleagues in the places we work. It is through these ways of dissenting that we establish a relationship with them. Our relations with our friends are based as much on how we learn to live with our disagreements as on other things. The relationship between spouses is filled with many moments of disagreement. If our friends and family consist only of those who agree with us all the time, then we will not have any friends and family. Learning to live with others, the first requisite for a social existence, is about learning how to live with them when they disagree with us.

Dissent is so ingrained in us that we don't even need others to disagree. We constantly disagree with ourselves. We argue with our own selves all the time as if each one of us is an individual made up of many selves. When we think, we are often dissenting with our own selves. When we stifle dissent within our own minds, we stop thinking. Many of our meaningful acts also occur from this dissenting conversation of our many selves.

Social dissent

Dissent is thus a condition of existence and the real problem is not dissent but silent assent. When we agree collectively, we are silently assenting, agreeing with what is being said and done. This is really not the existential characteristic of a human being but only that of a 'bonded mind'. However, some might say that assent is the way societies come together, and it is needed for a stable society. But this is plain wrong. Just as a baby attains its sense of self through dissent, so too does a society get its own identity by

learning to dissent. In other words, we will have a stronger identity of what our society and nation are through forms of dissent.

Moreover, every process of forming the social needs dissent. A group made up of people who agree to everything all the time is not really a society but an oligarchy. It becomes a society only through disagreements and dissent. Dissent, paradoxically, is the glue which makes a decent society possible.

A mature society is one which has the capacity to manage dissent since members of a society will always disagree with each other on something or the other. Democratic societies are the best of the available models in managing dissent with the least harmful effect on the dissenter. This is the true work of democracy; elections and voting are the means to achieve this. The essence of democracy is to be found in the method it uses to deal with dissent, which is through discussion and debate, along with particular ethical norms.

A democratic society manages dissent by trying to make individual practices of dissent into social practices. Academics and research are two important activities where dissent is at the core. No society has survived without making changes to what was present earlier. New knowledge and new ways of understanding the world, for good or bad, has always been part of every society.

How is new knowledge, new understanding, created? Many new ideas arise by going against earlier established norms and truths. Science, in its broadest meaning, is not possible without dissent since it is by finding flaws with the views of others that new science is created. No two philosophers agree on one point, and no two social scientists are in perfect harmony with each other's thoughts. Artists are constantly breaking boundaries set by their friends and peers. Buddha and Mahavira were dissenters first and philosophers next. The Ramayana and Mahabharata are filled with stories of dissent and responsible ways of dealing with it.

Thus, when academics dissent, it is part of their job expectation to do so! Dissent is not just about criticism, it is also about showing new perspectives. The scientific community does not imprison scientists for dissenting although we are increasingly finding today that social scientists and artists are being targeted in the name of dissent. This has grown to such an extent that when faculty members dissent about unlawful hiring practices, they face harassment and suspension.

It is not that dissent is necessary only for democracy — it is necessary for the survival of the human race. Any society which eradicates dissent has only succeeded in eradicating itself. We cannot afford to forget the examples of Nazi Germany or Stalinist Russia. A sustainable, harmonious society can only be formed from practices which deal with dissent respectfully and ethically.

Ethics of dissent

The importance of dissent is not just that it is good for democracy. There is also a fundamental ethical principle involved in dissent. Any society which muzzles dissent is acting unethically. Let me give two ethical principles associated with dissent. First, its relation to non-violence, a principle which is so integral to the unique Indian practices of dissent from ancient times to Gandhi and Ambedkar. Second, dissent is an ethical means of protecting those who are worse off than others. Dissent is not mere complaint which all of us, however privileged we are, indulge in. Social dissent is a necessary voice for all those who are oppressed and are marginalised for various reasons. This is the only thing they have in a world which has denied them the basic dignity of a social life.

The ethical principle is that the worse off in a society have greater right to dissent and protest even when the more privileged may not agree or sympathise with that dissent. This is the truly ethical principle that can sustain a mature society. Thus, when we hear the voices of dissent from the oppressed and the marginalised, it is ethically incumbent upon those who are better off than them to give them greater space and greater freedom to dissent. Any of us, particularly the more well-off population, who support any government which wants to use its power to stop dissent of those who are suffering from injustice of various kinds are being used as partners in this unethical action. We act immorally when we sit in the comfort of our homes and abuse those who fight for the rights of the poor and oppressed. When we condemn them in the name of the nation, we are performing an unethical act of further condemning those who are already condemned.

Date: 04-09-18

Beyond uniformity

The Law Commission's advice to end discrimination in personal laws is persuasive

Editorial

The Law Commission's consultation paper on reform of family laws is a progressive document that avoids the advocacy of a uniform civil code merely for the sake of uniformity. Instead, it adopts an approach that would facilitate movement towards establishing a body of civil law that promotes equality within the law governing each community. In other words, it advocates the removal of discriminatory provisions in the law relating to aspects such as marriage, divorce, succession and adoption in all religions — and the adoption of certain universal principles that would address gender bias and other forms of existing discrimination. A simple way of moving towards a common marriage law is to make 18 the marriageable age for all communities and genders.

When the age of majority and the age of voting, among other indicators of adulthood, stand at 18, there is no reason for differential treatment on this score. The Commission rightly points out that the present age of 21 for men merely affirms the stereotype that the wife should be younger. Decriminalising adultery and making it a common ground for divorce, simplifying the 'no-fault' divorce procedure and introducing 'irretrievable breakdown' as a ground for dissolving any marriage are other measures it throws open for discussion. The panel suggests abolition of the 30-day notice period for civil marriages to prevent its misuse by those against inter-caste and inter-religious marriages. It also suggests division of property equally after divorce, and removal of illnesses that can be cured or controlled from possible grounds of divorce. The thrust of the Law Commission's report is founded on the idea that "the mere existence of difference does not imply discrimination, but is indicative of a robust democracy." Changes have been mooted to give equal treatment to children and parents of any gender in guardianship and adoption matters.

The juvenile law principle that the child's best interest is the 'paramount consideration' has also been put forward for universal application. While calling for a wider public debate on its views, the Law Commission has framed the issue in the most reasonable way possible when it says it has "dealt with laws that are discriminatory rather than providing a uniform civil code which is neither necessary nor

desirable at this stage." In a strict and narrow reading, this goes against the Directive Principles of State Policy that favour a uniform civil code; also, some court judgments have questioned why such a code was not yet in place. However, in a world that increasingly heeds cultural diversity, it is unnecessary that every aspect of personal law should be dealt with in exactly the same manner. A just code is one in which universal principles of equality, non-discrimination and avoidance of taboos and social assumptions are applicable in equal measure within every community's set of laws.